UNIVERSAL
LIBRARY
OU_180569
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.6/B17K Accession No. G.H.1345

Author बालकृष्ण राव

Title कवि और काव्य। 1947

This book should be returned on or before the date last marked below.

कवि और छवि

बालकृष्ण राव

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९४७

मूल्य २)

Checked 1969

Printed and Published by K. Mittra, at
The Indian Press, Ltd., Allahabad.

दो शब्द

आज ग्यारह वर्षों के बाद फिर मैं अपनी कुछ पद्य-रचनाओं का एक संकलन लेकर हिन्दी-संसार के सामने उपस्थित हो रहा हूँ। १९३६ में "आभास" के नाम से मेरी रचनाओं का एक छोटा सा संग्रह प्रकाशित हुआ था। उसे हिन्दी-प्रेमियों ने जिस कृपा और स्नेह के साथ अपनाया था और मुझे जितना प्रोत्साहन मिला था उससे मेरा साहस और आत्मविश्वास द्विगुणित हो जाना चाहिए था और मुझे शीघ्र ही एक नवीन पुस्तक हिन्दी-ससार के सामने रखनी चाहिए थी; पर ऐसा न हो सका।

इस असमर्थता के कई कारण थे। विद्यार्थी-जीवन का अवसान "आभास" का प्रकाशन-काल था। जीवन के जिस नये क्षेत्र में मैंने उसके बाद प्रवेश किया उसमें काव्य-साधना के अनुकूल वातावरण अत्यन्त कठिनता से मिल सकता है। काव्य-रचना के लिए जिस मानसिक

शान्ति एवं एकाग्रचित्तता की आवश्यकता होती है वह सरकारी कर्मचारी को भला कहाँ उपलब्ध हो सकती है ? फिर भी वह आन्तरिक प्रेरणा जो किसी-किसी की अनुभूतियों, आकांक्षाओं, कल्पनाओं आदि को कविता का रूप देकर उसकी अस्फुट वाणी को प्राण-दान देती है, अपने अनुरूप वातावरण स्वयं ही बना लिया करती है। फलत: मैं भी विषम और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कभी-कभी काव्य-साधना कर सका : कुछ थोड़ी सी तुकबन्दियों की रचना कर सका। पर इन थोड़ी सी रचनाओं में भी कई मेरी ही दृष्टि में प्रकाशित होने के योग्य नहीं हुईं और उन्हें मैंने इस संग्रह में स्थान नहीं दिया।

मेरे कई कृपालु मित्रों ने कई बार यह कहकर मुझे लज्जित किया था कि मैंने हिन्दी से अपना सम्बन्ध ही तोड़ दिया है। उनका उपालम्भ उचित था। इधर मैंने लिखा भी बहुत कम—और प्रकाशित उससे भी कहीं कम करा सका। प्रस्तुत संग्रह आज हिन्दी-संसार के सामने रखकर मैं हिन्दी-सेवा में अपनी पिछले वर्षों की शिथिलता के लिए क्षमा-याचना भी करता हूँ और साथ ही यह आश्वासन भी अपने मित्रों को दिलाना चाहता हूँ कि भविष्य में यह मेरी चेष्टा होगी कि उन्हें फिर कभी ऐसे उपालम्भ का अवसर न दूँ।

जौनपुर,
३. ८. १९४७

बालकृष्ण राव

समर्पण

छन्दों की छवि, लय की मृदुता,
शुचिता, भावुकता भाषा की;
जिसमें करुणा की कोमलता
है अजर अमरता आशा को।

बन चुकी परिधि मेरे जग की
जिसकी मुस्कान-क्षितिज-रेखा;
तारों में तरल, सरल शिशुता,
शशि में जिसका यौवन देखा;

उस पीड़ा सी प्रच्छन्न, जिसे
पीड़ित की वाणी कह न सकी ;
उस धारा सी दुर्लभ, जिसको
मरुभूमि मिली; जो बह न सकी ।

सरिता के कूलों की अतृप्ति,
जो साथ रहे पर मिल न सके ;
उनकी आकांक्षा की अशक्ति
जो सुमन समय पर खिल न सके ।

जिसने प्राणों को वाणी दी,
कवि की वाणी को प्राण दिये;
वह मूर्तिमती कविता कर ले,
स्वीकृत जो उसने दान दिये ।

सूची

१
जग जा, जग जा १

२
कवि के प्रति ३

३
जग उठा स्वप्न ५

४
कविता का जन्म ७

५
साधना १०

६
पथिक से १२

७
पथिक, तुम्हारी जय हो, जय हो ! १४

८
"पथ हो असीम, आशा अनन्त" १६

९
"सिद्धि भी है, साधना भी" १८

१०
"विजय उसकी हार में भी" २०

११
नाविक के प्रति २२

१२
केवल एक २४

१३
रात सुख से सो रही थी २६

१४
"स्वप्नों के चित्र अपूर्ण रहे" २८

१५
वह लक्ष्य क्या जो प्राप्त हो ? ३०

१६
"क्षितिज के उस पार" ३१

१७
"कल्पना के देश में" ३३

१८
कब खुलेंगे द्वार ? ३५

१९
"अब प्रतीक्षा कर सकोगे ?" ३७

२०
पिक मधुऋतु में गाये तो क्या ? ३९

२१
"आमन्त्रण देकर क्षितिज सदा" ४१

२२
कवि पुनर्मिलन का प्रण समझा ४३

२३
"कल के गीत न गाओ आज" ४५

२४
"आज फिर तुम सो न जाना" ४७

२५
"रजनी के उर में ज्योति-किरण" ४८

२६
"आशा आज अकेली है" ५०

२७
"ठाढ़ी प्रेम-नदी के तीरा" ५१

२८
नयन कवि के ५२

२९
कवि और संसार ५४

३०
गा रहा मधुमास था ५६

३१
"स्वप्नों को मार्ग दिखा न सकी" ५८

३२
"जन्म का अधिकार जीवन को मिला" ६०

३३
तुम और मैं ६२

३४
"तुम सुनो तो गान मेरा स्वर बने" ६४

३५
मुख चूमती मँझधार हो ६५

३६
शिशु के प्रति ६७

३७
फिर क्या होगा उसके बाद ? ६९

३८
"आदि ही अवसान भी है" ७२

३९
नव-वर्ष ७४

४०
महायुद्ध के पञ्चम वर्ष का आरम्भ ७६

४१
स्वाधीनता-दिवस ७८

४२
प्यास का इतिहास केवल ८०

४३
"जलते ही मन्दिर का दीपक" ८२

४४
कवि और छवि ८४

१

जग जा, जग जा !

जग जा, जग जा, विहग-बालिके
रवि-किरणों का स्वागत करने।
मूक पवन के उष:गान में
स्वर का सहज सुधारस भरने।

बिखर गये थे जो रजनी में
सखि, नीरव उच्छ्वास विश्व के;
जग जा, जग जा उन्हें तान में
केन्द्रित, कम्पित, स्पन्दित करने।

विचर रहे हैं स्वप्न निराश्रय,
सुन पड़ती पगध्वनि प्रकाश की;
जग जा, जग जा सजनि स्नेह से
उन्हें छिपाकर उर में धरने।

तू स्थिर थी, निद्रा की सरिता
स्वयं ले गई तट से तट तक;
जग जा, जग जा अब नभचारिणि,
जाग्रति के जलनिधि को तरने॥

१९३७

२

कवि के प्रति

आओ भावुक, आज शून्य की
साँसों में स्वर का रस घोलो।
करुणा-प्लावित कर असीम को
मलिन स्वप्न सीमा के धो लो॥

जीर्ण जगत-प्राचीर पार कर
आज कल्पना वियत् प्रान्त में
उड़ने को आतुर है, आकर
नियति-नियम के बन्धन खोलो॥

निज स्वप्नों से जग की निद्रा
चित्रित करते रहे निरन्तर,
आज विश्व की दिवस-ज्योति से
अपनी निशा सजाकर सो लो ॥

विस्तृत कर दो आज हमारी
आशा की संकुचित परिधि को।
कवि-छवि के चिर-मधुर मिलन में
तन्मय कर दो, तन्मय हो लो ॥

१६३६

३

जग उठा स्वप्न

जब तुम्हें छिपाकर छाया में
रवि खोल गया जग-ज्योति-द्वार,
तब विहगों के कल कूजन में,
किरणों में, कम्पित कण कण में,
कवि ने सुन ली छवि की पुकार।

अभिनव जाग्रति की माया में
जब स्वर्ण-वर्ण बन अन्धकार
छाया वसुधा के आँगन में,
चेतनता बन कवि के मन में
छा गया विपुल स्मृति का प्रसार।

कविता की काञ्चन काया में
हो संनिविष्ट, चिर-निराकार
अलि की अलसित आशा क्षण में
सुषमा बन व्याप्त हुई वन में,
जग उठा स्वप्न बनकर विचार॥

१६३६

४

कविता का जन्म

विमल क्षितिज पर गोधूली में
रवि ने देखी शशि की छाया।
इङ्गित पाकर सूत्रधार का
गगन-मञ्च पर घन घिर आया।

तारे यह मृदु मिलन देखने
खड़े हुए छिपकर मेघों में,
मोहित होकर मन्द पवन ने
पुण्य प्रणय-संगीत सुनाया।

चौंक पड़े शिशु, पशु, विहंग, कवि;
थिरक उठा था तन वसुधा का।
सुध-बुध खोकर बाल प्रकृति ने
आभा का आवरण उठाया।

अन्तिम चुम्बन कर वसुधा का
विकल सूर्य ने विदा माँग ली।
नभ में रजत हास बिखराकर
शशि ने आगे चरण बढ़ाया।

कवि के सुख-दुख भेद भूलकर
मिले स्नेह से स्वप्नलोक में।
छवि ने खोले द्वार शान्ति के,
आशाओं ने आश्रय पाया।

शुचि, स्वर्गिक, सांकेतिक स्वर में
नियति देवि बोली रवि-शशि से;
"चिर-वियोग-ज्वाला की द्युति से
रच दो मधुर मिलन की माया।

"जग के अश्रुसिक्त नयनों पर
सुख का इन्द्रधनुप अंकित कर,
बन्धु, सजा दो आज स्वर्ग के
वैभव से वसुधा की काया।

"इस अद्भुत क्षण के प्रकाश में
बन्धु, प्रकट होकर, बढ़-बढ़कर
पड़े आज सीमा के मुख पर
उस असीम की छविमय छाया।"

सुनकर, पुलकित हो रवि-शशि ने
तम-प्रकाश की खींच यवनिका,
आशा के आतुर नयनों से
स्मृति का तारकलोक छिपाया।

चिर-नीरव संगीत विश्व का
झंकृत हुआ पवन-वीणा में;
कवि ने केन्द्रित कर करुणा में
कविता को साकार बनाया॥

१६३७

फा० २

५

साधना

अपने स्वर से परिचित हो लूँ ।
अपने सुख से हँस लूँ पल भर,
अपने दुख से रो लूँ ॥

कोटि कल्पना-कुसुम मनोहर
वृन्तहीन हैं खिले गगन पर,
पहले अलि के मधु-प्याले में
शूलों का रस घोलूँ ॥

रजनी की अक्षय सुषमा-निधि
तब मैं माँग सकूँगा, प्रेयसि !
पहले जब दिन भर के जीवन
का सञ्चित धन खो लूँ ॥

भावी के अदृश्य चरणों पर
नत है वर्त्तमान का मस्तक;
आशा के पद-पङ्कज स्मृति के
नयन नीर से धो लूँ ॥

१६४१

६

पथिक से

यह विस्मृति की गहन गुफा है
पथिक, शान्ति का द्वार नहीं है।
नभ का तुहिन-पात सुमनों पर,
अंकित अलि का प्यार नहीं है।

दूर क्षितिज की ओर देख लो,
विजय हुई तम पर प्रकाश की;
नव जाग्रत किरणों का अभिनय,
कवि-छवि का अभिसार नहीं है।

आशा के मधुमय अधरों पर
मन्दस्मित है स्मृति की रेखा;
यह मरीचिका है माया की,
सुषमा का शृङ्गार नहीं है।

बन्धु, नियति के संकेतों पर
स्वप्न यहाँ बनते, मिटते हैं;
यह विभूतियों का विनिमय है,
जीवन का व्यापार नहीं है।

इस अज्ञात, विषम पथ पर है
चलते ही रहना निशिवासर;
रुक जाना पाथेय न हो जब,
बन्धु, पंथ का पार नहीं है॥

१९४१

७

पथिक, तुम्हारी जय हो, जय हो !

पथिक, तुम्हारी जय हो, जय हो !
चिर आशा में देव, तुम्हारी
मेरी क्षणिक निराशा लय हो ॥

आज द्वार पर मेरे आकर;
पल भर स्वर्गिक स्वर में गाकर,
मेरी निद्रा में सपने भर,
जाते हो तो जाओ, जय हो ॥

आश्रय की है जिसे अपेक्षा,
आशा से वह माँगे भिक्षा;
बन्धन स्वयं मुक्ति की शिक्षा।
तुम स्वतन्त्र हो अभय, निराश्रय।
जाओ पथिक, तुम्हारी जय हो॥

कण असीम से परिचय कर ले,
क्षण अनन्त को उर में धर ले,
जीना हो तो पहले मर ले।
अविहत जाग्रति देव, तुम्हारी
मेरी निद्रा भी अक्षय हो।
पथिक, तुम्हारी जय हो, जय हो॥

१६३५

८

पथ हो असीम, आशा अनन्त,
यह नव निसर्ग हो चिर-वसन्त;
यत्नों में ही हो प्राप्ति निहित,
फिर तृप्ति स्वयं चिर-तृषा बने।

श्रम में विराम, क्षय में विकास,
हो अश्रुकणों में अमिट हास;
कवि के नयनों की छाया में
प्रतिदिवस मिलन की निशा बने।

स्वर हो स्वतन्त्र, लय-ताल-हीन;
हो शक्ति विफलता से नवीन—
जिस ओर बढ़ें पथ-भ्रान्त चरण
प्रियतम के घर की दिशा बने ॥

१६३६

६

सिद्धि भी है, साधना भी।
स्वप्न जाग्रति की उपेक्षा
है अथक आराधना भी ॥

जग दिवस को दे विदा,
स्वागत करें हम-तुम निशा का;
विरह में स्मृति की व्यथा है,
मिलन की चिर-कामना भी ॥

शाप-मिश्रित ही सभी
वरदान पाये विकल कवि ने;
कल्पना का मधुकलश भी,
चिर-तृषा की यातना भी ॥

१९४१

१०

विजय उसकी हार में भी
स्वप्न जीवित रह सके जिसके सजग संसार में भी।

एक पल जीकर अमरता
जो युगों की पा चुका हो,
मौन वीणा विश्व की जो
एक बार बजा चुका हो,
अभय वह नाविक, जिसे तट मिल सके मँझधार में भी।
विजय उसकी हार में भी॥

क्या हुआ आया शिशिर, यदि
आ रहा मधुमास पीछे?
पथ दिखाती है निशा,
चलता प्रसन्न प्रकाश पीछे।
रुक न पाई काल की गति सृष्टि में, संहार में भी।
विजय जीवित हार में भी॥

बद्ध-पिञ्जर हो विहग, क्या
गा न सकता गान वन के?
कौन नियमों से नियन्त्रित
कर सका व्यापार मन के?
सो सके जो, देख ले सुख-स्वप्न कारागार में भी।
विजय की जय हार में भी॥

१६४६

११

नाविक के प्रति

नाविक, श्रम होगा व्यर्थ सभी
यदि धारा ही अनुकूल न हो।
अब सिद्धि इसी में है अपनी
साधक, यत्नों में भूल न हो॥

प्रियतम के आने की आशा
सो चुकी, पुण्य पल बीत चुका;
अब यही तृषा है, यही तृप्ति
पथ सूना हो पर शूल न हो॥

झड़ जायँ नीड़, उड़ जायँ विहग,
शाखायें हों पल्लव-विहीन;
पर कृषक-कला की पूर्ति यही,
यदि नष्ट कभी तरु-मूल न हो॥

अब सीमा स्वयं समष्टि बनी
भावुक, पूजा ही है प्रसाद—
लग सके न प्रियतम के उर से,
पर मलिन हार के फूल न हों॥

१९३७

१२

केवल एक

सौ सुन्दर, सुरभित, सुकुमार
सुमनों से गुम्फित कर हार,
पहनाया था सखि, प्रियतम ने
पुलकित होकर पहली बार।
उसके सौ सुमनों में आज
सुरभित है बस केवल एक, केवल एक॥

तन्मय होकर सौ-सौ बार
सजनि, किया प्रियतम ने प्यार,
केन्द्रित कर मेरे अधरों की
सीमा में अपना संसार।
उन सौ-सौ मादक स्पर्शों में
अंकित अब तक है बस एक, केवल एक ॥

अलि-गुंजन पर स्वर-संधान,
कर समीर-गति पर स्थिर तान,
मुझे सुनाया था प्रियतम ने
आशा का, स्मृतियों का गान।
उसके सौ-सौ मधुर पदों में
मुझे स्मरण है केवल एक, केवल एक ॥

१६४६

१३

रात सुख से सो रही थी

रात सुख से सो रही थी।
शीश नभ के अंक में, तन का धरा पर भार डाले;
त्याग तारों के विभूषण; खोल, बिखरा केश काले,
रात सुख से सो रही थी॥

विवश होकर रो रही थी।
याचना अलि की कमलिनी की अशक्त उदारता में;
विकलता स्वर की प्रतिध्वनि की मुखर निःसारता में,
विवश होकर रो रही थी॥

बल-परीक्षा हो रही थी।
प्राप्ति और समाप्ति में, वरदान में—आराधना में;
भ्रान्ति में— विश्रान्ति में भी, सफलता में—साधना में
बल-परीक्षा हो रही थी॥

तरल तम से धो रही थी।
कर गया अनुभूति के पट पर दिवस जो चित्र अङ्कित,
(हो सकी रक्षा न उनकी) कल्पना शिशु सी अशङ्कित
तरल तम से धो रही थी॥

बीज दिन के बो रही थी।
वेदना की रागिनी के, शान्ति के कोमल स्वरों से;
नियति निर्मम स्वप्न-मग्ना यामिनी के ही करों से
बीज दिन के बो रही थी॥
रात फिर भी सो रही थी॥

१९४७

१४

स्वप्नों के चित्र अपूर्ण रहे;
थी निशा क्षणिक, अवकाश न था।
जगकर देखा जग के दिन में
ज्वाला थी, किन्तु प्रकाश न था॥

पग-पग पर जग में राही को
पद-चिह्न मिले, पर पथ न मिला;
इस पट-परिवर्तन में सम्भव
अभिनय का कभी प्रयास न था॥

कब वर्त्तमान का वायु-वेग
जलने देता स्मृति के दीपक ?
झंझा में जल का आन्दोलन
वारिधि का वीचि-विलास न था ॥

बह रही साधना की सरिता
वरदान - शाप के कूलों में—
यत्नों की सिद्धि-विफलता में
आशाओं का इतिहास न था ॥

१९४६

१५

वह लक्ष्य क्या जो प्राप्त हो ?

चिर तृषा के तार पर ही
तृप्ति की झंकार जीवित;
एक पल की विकल स्मृति पर
स्वप्न का संसार जीवित।
साधना क्या, सिद्धि के जो साथ साथ समाप्त हो ?

ध्येय जिसका हो क्षितिज, वह
भूलता कब मार्ग अपना ?
नष्ट हो जाये न जिसका
नींद के ही साथ सपना;
मिलन के पल की प्रतीक्षा ही जिसे पर्याप्त हो ॥

१६४२

१६

क्षितिज के उस पार
कल्पना कैसे करे
अनुभूति से अभिसार ?

शान्ति कैसी, सो गया स्वर
यदि प्रतिध्वनि को जगाकर ?
अन्त क्या, यदि लक्ष्य केवल
मार्ग का शृङ्गार ?

विफलता जिसकी प्रतिक्षण
विजय को देती निमन्त्रण,
तृप्ति उसकी क्या, करे जो
प्यास को ही प्यार ?

ह्रास और विकास का क्रम
है नियति का नियम निर्मम—
आज की रजनी नहीं,
कल के दिवस का द्वार ॥

१९४२

१७

कल्पना के देश में
रूप धर आती मिलन का
स्मृति विरह के वेष में ॥

लौटना, रुकना असम्भव;
पथिक क्यों चलता न जाये ?
स्नेह की ले ज्योति, जीवन-दीप
क्यों जलता न जाये ?
एक ही अनुभूति के दो रूप थे स्वागत, निरादर:
हास में करुणा मिली थी,
सुख मिला था क्लेश में ॥

प्रश्न मैं करता रहूँगा,
किन्तु तुम उत्तर न देना।
(रह सके जीवित सदा ही साधना,
तुम वर न देना।)
एक परिचित रूप पाकर नष्ट हो न अनन्यता यह:
हृदय का सन्देश बदले
नियति के आदेश में॥

१६४६

१८

कब खुलेंगे द्वार ?

"अब फिर
कब खुलेंगे द्वार ?"
पूछता उत्सुक उपासक बार बार पुकार,
"कह दो, कब खुलेंगे द्वार ?"

"एक युग के कठिन तप की सफल, सुन्दर पूर्ति
हो सकेगी, देख लूँ यदि देव की प्रिय मूर्ति ।
क्षीण होता दीप प्रतिपल, सूखता है हार ।
निर्दय, कब खुलेंगे द्वार ?"

"कठिन था पथ, पर न कुण्ठित हो सका संकल्प,
शक्ति पर विश्वास था, वह प्रचुर थी या स्वल्प—
किन्तु वीणा के न होंगे शिथिल कब तक तार ?
अब भी क्यों न खुलते द्वार ?"

"क्या कहा ? जिनकी हुई आराधना स्वीकार,
लौटना उनको पड़ा, ले तृप्ति का उपहार ?
सफलता का मूल्य है यदि साधना का प्यार"
तो न मैं दर्शन करूँगा, अब न खोलो द्वार ॥

१९४६

१६

अब प्रतीक्षा कर सकोगे ?
बन्धु, बोलो, कर सकोगे ?
या, अकेले ही निशा में
इस अपरिचित मार्ग पर
निःशङ्क हो पग धर सकोगे ?
बन्धु, बोलो, धर सकोगे ?

यदि कभी पथ-भ्रष्ट होकर,
धैर्य, आशा, शक्ति खोकर,
छोड़ दोगे साधना तुम—
लौट क्या फिर घर सकोगे ?

स्मृति-कणों की किरण-माला
कर न पाये यदि उजाला,
तम निराशा की निशा का
दूर कैसे कर सकोगे ?
बन्धु, कह दो, कर सकोगे ?

१६३६

२०

पिक मधुऋतु में गाये तो क्या ?

दिन भर जो मिल न सका वह पथ
यदि सन्ध्या समय मिले तो क्या ?
जो उपवन में विकसित न हुआ
वह वन में सुमन खिले तो क्या ?

की भूल नियति ने जो याचक
निष्काम उपासक को समझी;
दे चुकी जिसे अभिशाप कभी,
वरदान उसे फिर दे तो क्या ?

है वर्तमान क्या, जब प्रतिपल
भावी गत में परिणत होती ?
जब बुझा आरती का दीपक,
मन्दिर के द्वार खुले तो क्या ?

वह क्या जाने जीवन, जिसका
परिचय केवल स्मृति, आशा से;
सुन सके प्रतिध्वनि ही स्वर की,
छवि की छाया देखे तो क्या ?

अविराम, निरन्तर चलने का
यदि राही को अभिशाप मिले;
गति स्वयं बनाती रहे मार्ग,
फिर लक्ष्य अलक्ष्य रहे तो क्या ?

क्या हुआ स्वप्न देखे सोकर
जब जगकर जग दिन काट चुका ?
हेमन्त, शिशिर में मौन रहा,
पिक मधुऋतु में गाये तो क्या ?

१९४९

२१

आमन्त्रण देकर क्षितिज सदा
करता जिसका उपहास रहा,
वह नाविक तट को पा न सका—
क्या दूर रहा, क्या पास रहा?

बढ़ता रजनी की ओर सदा
पल-पल पग-पग दिन का प्रकाश;
जिसकी छाया बन क्षय चलता,
जग कहता उसे विकास रहा।

पथ को पहचान सके कैसे
जो लक्ष्य न अब तक जान सका ?
अधिकार उसे क्या आशा का,
जो स्मृतियों का ही दास रहा ?

जाग्रति-जलनिधि में हुई सदा
सुख-स्वप्नों की सरिता विलीन;
उड़ने को था निःसीम गगन,
भू पर ही खग का वास रहा।

सागर की लहरों का उठना
कब सम्भव शान्त सरोवर में ?
कितनों का जीना जीवन है—
यों कौन न लेता साँस रहा ?

वाणी की शक्ति मिली जग को,
कवि की वाणी को शक्ति मिली।
क्या केवल कोकिल ने गाया
जब तक जग में मधुमास रहा ?

औरों से आगे बढ़ न सके
पद-चिह्न देख चलनेवाले;
जो अपना मार्ग बना पाया
उसका ही सफल प्रयास रहा॥

१६४६

२२

कवि पुनर्मिलन का प्रण समझा

कोकिल का रोदन और गान
जग केवल कल कूजन समझा।
फूलों में छिपकर शूल चढ़े,
पर प्रतिमा ने पूजन समझा॥

परिचित हो सका न सागर से
जग तट से लहरें देख देख;
अस्थिरता को हो प्रगति मान,
जीने को ही जीवन समझा॥

जग की भाषा के भार शब्द
आधार बने कवि के स्वर के;
कवि ने माना था लक्ष्य, किन्तु
जग अनुभव को साधन समझा ॥

सह सकी न दृष्टि प्रकाश कभी,
तम अपनी छवि न दिखा पाया।
जग दिवस-निशा ही जान सका—
तरु-लता-सुमन को वन समझा ॥

रजनी के अलसित, अरुण नयन
भ्रम हुआ देख अरुणोदय का—
छवि माँग रही थी विदा, किन्तु
कवि पुनर्मिलन का प्रण समझा ॥

१९४७

२३

कल के गीत न गाओ आज।
कल के सूखे सुमनों से मत
फिर जयमाल बनाओ आज॥

गत रजनी के स्वप्नों की निधि,
जीवित क्यों न रहे बनकर सुधि !
जग की भावशून्य जाग्रति में
उसे न यों बिखराओ आज॥

पल पल पर पग धर, बढ़ बढ़कर
खड़ा हुआ जग काल-शिखर पर;
इस क्षण की क्षणभंगुरता का
उसे न ध्यान दिलाओ आज ॥

कल की करुणा छिपी शान्ति में,
खोया है उल्लास भ्रांति में।
नये अश्रु से, नये हास से
जग का जी बहलाओ आज ॥

१६३६

२४

आज फिर तुम सो न जाना।
स्मरण रखना प्रण मिलन का,
पुण्य पल पर सो न जाना।
आज फिर तुम सो न जाना॥

तरल तम के आवरण में
सुन चुका संगीत मादक,
देख पाया पर न मैं
सुकुमारि, प्रतिमा मधुरिमा की।
स्वप्न-सागर में जगत के
बूँद बनकर खो न जाना।
आज फिर तुम सो न जाना॥

१६३५

२५

रजनी के उर में ज्योति-किरण,
मृदु स्वर अधरों के कम्पन में,
अङ्कित कर गई अमिट आशा
सखि, नियति निराशा के मन में।

मिल गया तृषा में शीतल जल,
नीरव लय में मधुमय भाषा;
खोया था कल जो शान्ति-सुमन
मिल गया विकलता के वन में।

स्थिर हुई कालगति, बने एक
आगामी, आगत, विगत सभी—
मिल गई विकल कवि की कविता
चिर-मुक्ति-मन्त्र-मय बन्धन में ॥

१९३७

२६

आशा आज अकेली है ।
एक न जीवन के वन-पथ पर
उसके साथ सहेली है ॥

खोज रही है सुरभि सुमन को,
भ्रमर खोजता है गुञ्जन को ।
पूछ रहा है जग आशा से,
"बाले, तू क्या खोज रही है ?"
पर वह कहती, "क्या जानूँ मैं—
यह भी एक पहेली है ॥"

१६३५

२७

ठाढ़ीं प्रेम-नदी के तीरा ।
सुधि-बुधि भूलि, मुदित मोहन को
गुन-गन गावतिं मीरा ।।

पुनि पुनि चौंकि चौंकि मग हेरतिं,
पल न धरतिं उर धीरा ।
सपना बनी मिलन-अभिलाषा,
नींद बिरह की पीरा ।।

१६३६

२८

नयन कवि के

नयन नीरव सजनि, कवि के
विमल मधुपात्र हैं छवि के।

कला की कान्तिमय काया,
सजग सौन्दर्य की छाया,
अकिञ्चन की अमित माया
प्रतिष्ठित आज कण-कण में
करों से हो रही रवि के॥

जगाकर स्वप्न सखि, जग के,
प्रभामय दीप कर मग के,
बद्ध स्वर खोलकर खग के
रहे नीरव नयन कवि के,
मधुर मधुपात्र बन छवि के ॥

१६३६

२६

कवि और संसार

(१)

कलिका कल सुख से विहँस उठी
कर मलय पवन का अधर-पान।
मादक स्वर-लय में उमड़ पड़ा
कवि के मन का चिर-मूक गान।

स्वर में अपना स्वर मिला मिला
जग ने गाया संगीत मधुर;
जनरव में निज स्वर-लय खोकर
कवि हुआ अकिञ्चन, विकल, विधुर ॥

(२)

कलिका का मुख था शोक-म्लान,
अलि हुआ प्रवासी, शान्त पवन।
करुणा के गीतों में सहसा
रो उठा विकल हो कवि का मन।

स्वर में अपना स्वर मिला मिला
जग ने गाया संगीत मधुर,
जनरव में निज स्वर-लय खोकर
कवि रहा अकिञ्चन, विकल, विधुर॥

१९३७

३०

गा रहा मधुमास था

मूक मेरे प्राण-पिक जब तक रहे
कोटि स्वर से गा रहा मधुमास था।
द्वार थे जब तक न मन्दिर के खुले,
साधना में सिद्धि का आभास था॥

अंक में सुख से लिये सोती रही
कोटि कोमल चित्र तम की तूलिका;
देख पाया था न जब तक क्षितिज को,
पथिक अपने लक्ष्य के ही पास था॥

गा न पाया था कभी जो गान मैं
सुन सकी करुणा तुम्हारी सहज ही ।
प्राप्ति के पद पर प्रतिष्ठित हो गया
आज वह, जो कल अपूर्ण प्रयास था ।।

१६४६

३१

स्वप्नों को मार्ग दिखा न सकी
जलकर जाग्रति की दीपशिखा।
कब अश्रुकणों ने करुणा का,
स्मित ने सुख का इतिहास लिखा ?

कितने पथिकों की यात्रायें
पद-चिह्नों में साकार बनीं ?
वीणा के जीवन के युग की
कितनी घड़ियाँ झंकार बनीं ?

कितनी अनुभूति, भाव कितने
गुञ्जन में भ्रमर न भर पाया !
कितना औदार्य सुमन अपना
सौरभ में व्यक्त न कर पाया !

सुन लिया सदय होकर तुमने
वह गान जिसे मैं गा न सका ।
पा गया सहज ही तुम्हें वहाँ
मैं कभी जहाँ तक जा न सका ।।

१९४७

३२

जन्म का अधिकार जीवन को मिला।
मरण का आधार जीवन को मिला ।।

आदि के स्वर की प्रतिध्वनि अन्त में;
शिशिर में अवसाद, हास वसन्त में;
एक पल की आड़ में युग, नींद में
स्वप्न का संसार जीवन को मिला ।।

क्यों न पूछूँ आज से कल का पता ?
दे सकेगी वृक्ष का परिचय लता।
सफल पूजन-हीन ही आराधना;
देव-मन्दिर-द्वार जीवन को मिला॥

सिद्धि तप की सो गई वरदान में,
सो गई स्वर-साधना ही गान में।
नियम-बन्धन तोड़, तट उस पार का,
आ स्वयम् इस पार जीवन को मिला—
जब तुम्हारा प्यार जीवन को मिला॥

१९४७

२२

तुम और मैं

मैं अकिञ्चन याचना,
तुम हो सदय वरदान।
मैं अथक स्वर-साधना हूँ,
तुम चिरन्तन गान॥

मार्ग मन्दिर का दिखाता भक्ति का आलोक।
अर्घ्य देता है दिवस को यामिनी का शोक॥

विकलता मैं, चेतना तुम;
स्फूर्ति मैं, तुम प्राण;
तुम चरण-ध्वनि अवतरण की;
मैं सजग सोपान ॥

मैं प्रतीक्षा, मिलन-पल तुम; मैं नियम, तुम न्याय।
मैं सतत उद्योग हूँ, तुम एकमात्र उपाय ॥

नैश-नभ मैं, पूर्णिमा की
तुम मधुर मुस्कान।
मैं प्रतिध्वनि की मुखरता--
तुम अमर आह्वान ॥

१९४७

३४

तुम सुनो तो गान मेरा स्वर बने ।
तुम उपास्य बनो, तपस्या वर बने ।।

दीप ने जलकर शलभ को पथ दिखाया ।
दृष्टि पाई जब तुम्हें मैं देख पाया ।।
तृप्ति कैसी, जब तृषा निर्झर बने ?

हर्ष की हो वृष्टि, घिर लें शोक के घन ।
युग प्रतीक्षा का बने प्रिय-मिलन का क्षण ।
क्षितिज तक जाकर अवनि अम्बर बने ।।

१६४७

३५

मुख चूमती मँझधार हो

इस ओर हो दिन डूबता,
उठती घटा उस पार हो।
सब आस हो जब टूटती,
जब छूटती पतवार हो॥

फिर भी रहे घर की दिशा
गति की बनी अनुगामिनी—
तट तैरता जल में मिले,
मुख चूमती मँझधार हो॥

अलि अंक में न छिपा कभी
जब थी प्रफुल्ल सरोजिनी।
जब एक हास-विकास हों,
अवसाद ही अभिसार हो॥

लहरें लिखा करतीं मिटाकर
नाम नित्य नये नये—
विजयी वही जिसके गले पड़
हार भी जय हार हो॥

वह दान क्या, जिसको न दे
वरदान का वल याचना?
वह तृप्ति क्या जिसको न फिर
भी प्यास का अधिकार हो?

१६।

३६

शिशु के प्रति

क्या परिचय दूँ जग को तेरा—
गायक का अस्फुट स्वर कह दूँ
या कवि-वीणा का तार कहूँ ?

अपनी सांकेतिक भाषा में
मेरे शिशु-मन तू स्वयं बता
मैं तुझे प्यार का पुष्प कहूँ
या पुष्प-रूप में प्यार कहूँ।

आशा का विमल विकास कहूँ
कविता का कोमल हास कहूँ,
अथवा अपनी सुख-स्वप्न राशि
सीमित, सजीव, साकार कहूँ?

रवि-रश्मि कहूँ मैं तुझे एक,
या पावन दिवस प्रसार कहूँ?
पल में अंकित अनन्त, अथवा
कण में केन्द्रित संसार कहूँ?

१९४१

३७

फिर क्या होगा उसके बाद ?

"फिर क्या होगा उसके बाद ?"
उत्सुक होकर शिशु ने पूछा,
"माँ, क्या होगा उसके बाद ?"

"रवि से उज्ज्वल, शशि से सुन्दर,
नव किसलयदल से कोमलतर
वधू तुम्हारी घर आयेगी
उस विवाह-उत्सव के बाद।"

पलभर मुखपर स्मित की रेखा
खेल गई, फिर माँ ने देखा
कर गम्भीर मुखाकृति शिशु ने
फिर पूछा, "क्या उसके बाद ?"

"फिर नभ के नक्षत्र मनोहर
स्वर्ग लोक से उतर उतर कर
तेरे शिशु बनने को मेरे
घर आयेंगे उसके बाद।"

"मेरे नये खिलौने लेकर
चले न जायें वे अपने घर!"
चिन्तित हो कह उठा, किन्तु फिर
पूछा शिशु ने, "उसके बाद ?"

अब माँ का जी ऊब चुका था,
हर्ष श्रान्ति में डूब चुका था;
बोली, "फिर मैं बूढ़ी होकर
मर जाऊँगी उसके बाद।"

यह सुनकर भर आये लोचन,
किन्तु पोंछकर उन्हें उसी क्षण,
सहज कुतूहल से फिर शिशु ने
पूछा, "माँ, क्या उसके बाद ?"

× × ×

कवि को बालक ने सिखलाया
सुख दुख हैं पल भर की माया,
है अनन्त का तत्त्व प्रश्न यह
"फिर क्या होगा उसके बाद ?"

१६३६

३८

आदि ही अवसान भी है।
अरुण में अंकुर दिवस के,
पर निशा-निर्वाण भी है ॥

वह जगे क्यों, नींद ही
जिसकी सजग, सुन्दर, सजीली ?
स्वप्न में स्मृति की प्रतिध्वनि,
कल्पना का गान भी है ॥

लक्ष्य से है कौन परिचित ?
मार्ग की ही खोज जीवन ।
विफलता ही शक्ति श्रम की;
शाप ही वरदान भी है ॥

नियति के आदेश को जग
मानकर ही जान पाया—
विकलता के क्षीण मुख पर
शान्ति की मुस्कान भी है ॥

१६४६

३६

नव-वर्ष

नयनों में ले अश्रुबिन्दु, मृदु अधरों पर मुस्कान,
स्मृतियों से स्वर, माँग कल्पना से मादक लय, तान,
करते हैं तेरा अभिनन्दन, गाते स्वागत-गान
श्रान्त निशा की करुणा कोमल, बालारुण का हर्ष—
स्वागत रे नव वर्ष !

दिशा दृष्टि में तेरी, पदरज में पथ का विस्तार
(खोज रहा जिसके कण-कण में अपने को संसार)—
बन्द किये उतने ही तूने जितने खोले द्वार।
मिलन तुझे मैं आदि-अन्त का मानूँ—या संघर्ष ?
बता, बता नव-वर्ष।

पावस को जलकलश मिला, पाई निदाघ ने प्यास;
नीड़-रहित रह गई निराशा, पंखहीन विश्वास;
सिद्धि साधना की समाधि थी, निष्फल रहा प्रयास—
ज्वाला ही बन सका ज्योति की जाग्रति का उत्कर्ष।
अब तक रे नव-वर्ष!

प्रतिपल नवयुग का अरुणोदय, बीते युग की शाम।
तू कैसा नव-वर्ष? यहाँ युग-परिवर्त्तन अविराम;
फिर से बह सकती सरिता यदि कर सकती विश्राम।
कल था जहाँ वहीं अब भी है क्षितिज और आदर्श।
सुन ले रे नव-वर्ष॥

१९४७

४०

महायुद्ध के पञ्चम वर्ष का आरम्भ

चार वर्ष बीते जब जग ने खोकर बुद्धि, विवेक,
दिये आसुरी आकांक्षा के आगे घुटने टेक।
थे निरुपाय देखते अब तक मानव, यह नरमेध—
जन-जीवन की रुधिर-धार से पशुबल का अभिषेक।

फिर भी विचलित हुए न तुम, हो श्रान्त, विकल, पथभ्रष्ट;
काल रात्रि थी, पर ध्रुव सा था लक्ष्य तुम्हारा स्पष्ट।
बुझा न आशा-दीप तुम्हारा, अटल रहा विश्वास —
सहनशक्ति ही रहे बढ़ाते विघ्न, विफलता, कष्ट।

चली निशा, तम कब तक रखता अरुणोदय को रोक !
बहा समीरण, किरण-स्पर्श से जगे कोकनद, कोक ।
यत्न, यातनाओं के युग के तुंग शिखर पर आज
खड़े हुए तुम देख रहे हो नवयुग का आलोक ।।

१६४३

४१

स्वाधीनता-दिवस

धन्य है तू आज, भारत !
शाप को आशीष से, अभिमान को श्रीहत विनय से;
कर दिया तूने पराजित पाशविकता को प्रणय से।
आज तक तेरे विलक्षण युद्ध पर हँसता रहा जग;

अनुसरण तेरा करे अब
सतत सभ्य समाज, भारत !
धन्य है तू आज, भारत !!

गा रहा है आज तेरा विश्व गौरव-गान फिर से।
दृष्टि में जग की झलकता आज वह सम्मान फिर से।
शृंखलाओं में तुझे बाँधा कभी जिनके करों ने,
डालते जयमाल अब वे
देख सिर पर ताज, भारत !
धन्य है तू आज, भारत !!

धन्य गंगा ! धन्य हिमगिरि ! धन्य हिन्दू, हिन्द, हिन्दी !
यह उषा की अरुणिमा है आज मुक्त-ललाट-बिन्दी।
अमिट हो महिमा, निरन्तर अभ्युदय का पथ अकण्टक !
अमर हो तेरा युगों के
बाद लौटा राज, भारत !
धन्य है तू आज, भारत !!

१९४७

४२

प्यास का इतिहास केवल

क्षितिज क्या है ?—दृष्टि के
अभिमान का उपहास केवल ।
तृप्ति का क्षण है युगों की
प्यास का इतिहास केवल ॥

गहनतर ही कर सका तम
क्षीण दीपक एक जलकर ।
मूक मेरी साधना का
गान यह आभास केवल ॥

पुष्प चरणों पर गिरे कुछ,
शेष प्रतिमा तक न पहुँचे।
पूर्त्ति कैसी ? प्राप्ति ही जब
एक सफल प्रयास केवल ।।

द्वार तक पहुँचा निशा के,
थी यही तप-सिद्धि रवि की।
पूर्ण कर यात्रा, पथिक
पहुँचा परिधि के पास केवल ।।

१९४७

४३

जलते ही मन्दिर का दीपक
आलोक दूर ले गया द्वार।
यात्री को लक्ष्य दिखाने को
बढ़ गया मार्ग का ही प्रसार।

जब तक न ज्योति में लीन हुए,
थे अगणित चित्र छिपे तम में।
क्षण भर बजकर ही हुए मूक
युग की वीणा के तरल तार।

थी स्वप्न-रहित निद्रा जब तक
जाग्रति में था किसका अभाव ?
परिमित पंखों की शक्ति न थी,
जब तक विहंग था निराधार।

क्या अन्तर तृप्ति-तृषा में था
जब तक न मिली थी जलधारा ?
आशा आकांक्षा में बदली--
जग विजयी होकर गया हार।

जब तक स्वर में केन्द्रित न हुए,
थे अमर, अमूर्त गान कवि के।
बँध गई कल्पना रंगों में—
पा गया तूलिका चित्रकार॥

१९४७

४४

कवि और छवि

विजन विपिन था, नीरव खग-मृग, निश्चल तरु थे;
तैर रहे थे मेघ व्योम में मन्थर गति से।
कलिका के कम्पित, सस्मित, सुरभित अधरों को
मन्द पवन पल्लव-शय्या पर चूम रहा था॥

अरुण नयन थे अति प्राची के, तरुण भानु था,
करुण, कान्तिहत, क्षीण प्रभा थी राकापति की।
वन में विमल सरोवर के जल पर रवि-किरणें
खेल रही थीं, द्रवित स्वर्ण सा जल लगता था॥

वहीं, सरोवर-तट पर ही, वट-वृक्ष एक था
झुकी एक शाखा थी जिसकी जल के ऊपर,
मानो अपना रूप गर्व से देख रही थी ॥

नव जाग्रति की ज्योति लिये किरणें द्रुत गति से
किसलय, पल्लव, शाखा के आवरण हटाकर,
प्रकृति देवि के इस मन्दिर के अन्तःपुर में
मानो करती थीं प्रवेश कम्पित चरणों से ॥

छन छनकर, नव ज्योति लिये, ज्वाला को तजकर
किरणें बढ़ीं समुत्सुक, तम की छटा देखने,
पर उनकी पगध्वनि सुनकर, हो भय से कातर
तम विलीन हो गया शून्य में तीव्र वेग से --
केवल कुछ पद-चिह्न रह गये छाया बनकर ॥

विजय-गर्व से तरु के चारों ओर फैलकर
किरणों ने अपना प्रकाश डाला कण-कण पर,
दीप्त हो उठा निखिल वनान्तर उस आभा से,
चमक उठा शुचि शिलाखण्ड नव, धवल ज्योति से
तरुतल के सन्निकट तमावृत जो रक्खा था ॥

निविड़ निशा के अन्धगर्भ से स्वयं निकलकर,
चिर-अमूर्त्त सौन्दर्य-राशि मानो अनन्त की,
किसी अलौकिक अभिलाषा से प्रेरित होकर
लेने को अवतार धरा पर मानो, आकर

व्याप्त हुई इस साधारण से शिलाखण्ड में।
विस्मित नयनों से वन के खग-मृग ने देखा
वन-देवी ही स्वयं विमल प्रस्तर प्रतिभा बन,
मानो अपने प्रजा-वर्ग को दर्शन देने,
वट के इस प्राचीन वृक्ष के नीचे आकर,
कण-कण से अपना विस्तृत वैभव समेटकर,
खड़ी हो गई बालारुण की स्निग्ध ज्योति में॥

पुलकित होकर मन्द पवन ने चँवर डुलाया,
विहग वन्दना करने लगे मधुर कलरव कर,
भक्ति, प्रेम के भावों से भर, तरु ने झुककर
चरणों पर बिखेर दी अञ्जलि पल्लवदल की।
किरणों ने मोहित हो प्रतिमा के अंगों को
अपने अद्भुत स्पर्शों से भर दिया कान्ति से;
स्वयं सजाकर लगीं देखने जब वे सुख से,
सुध-बुध खोकर तब सहसा प्रेमातिरेक से
लगीं चूमने प्रतिमा के शीतल अधरों को—
दीप्त हो उठे वे भी सहसा मधुर हास से॥

वहीं निकट ही शिल्पकार भी स्वयं खड़ा था,
काँप रहे थे चरण, किन्तु अपलक नयनों से
देख रहा था वह अपने श्रम के प्रसाद को।
वह कवि था, प्रेमी था सुमनों का, विहगों का,
प्रकृति उपास्य देवि थी उसकी, वन मन्दिर था।

पवन उसे शुचि, स्नेह स्पर्श से शीतल करता,
भरकर मन में सुरभि-सुधा की मादक धारा
सरस सुमन सुख से अचेत सा कर देते थे;
भर आते थे नयन भक्ति से, कृतज्ञता से।
पर यह अद्भुत भाव हृदय में ही रह-रहकर
कर देते थे विकल कल्पनाओं से कवि को,
पल-पल पर बनते, मिटते रहते थे सपने ॥

इन असंख्य आकांक्षाओं की धारा सहसा
उस दिन उमड़ पड़ी थी कवि के मन से अवसर पाकर;
गूँज उठा वन, सुना स्तब्ध होकर खग-मृग ने,
कवि कहता था, "वनदेवी, मैं जब तक तेरी
बना न लूँ अपने हाथों से प्रस्तर-प्रतिमा,
पवन स्पर्श कर सके न मुझको, सुमन सूखकर
बदल जायँ काँटों में मेरे दृष्टिपात से;
विहग मूक हो जायें जब मैं वन में आऊँ,
पशु मेरी पगध्वनि सुनकर भय से छिप जायें ॥"

तब से अथक परिश्रम करके कवि निशिवासर
पूर्ण कर सका कल सन्ध्या को अपनी कविता—
उसी समय आ गई निशा आतुर चरणों से।
पीछे हटा पूर्ण कर जब कवि उसे देखने,
देखा रजनी ने तब तक चुपके से आकर
तम के अंचल में प्रतिमा को छिपा लिया था ॥

विकल प्रतीक्षा में प्रभात की प्रथम किरण की,
खड़े खड़े ही कवि ने सारी रात बिता दी,
अब खग-मृग के साथ खड़ा अपनी ही कृति को
कवि आश्चर्य भरे नयनों से देख रहा था ॥

काँप रहे थे चरण, अधर भी काँप रहे थे,
काँप रही थीं कोमल, किसलयदल सी पलकें;
बिखरे, काले केश पवन के आघातों से
दूर्वादल से लहर लहर कर काँप रहे थे।
जाने कब तक इसी भाँति कवि वहाँ खड़ा था,
विहग और पशु भी स्थिर होकर रहे देखते ॥

अधिक वेग से काँप उठा सहसा कवि का तन,
आगे बढ़ा सवेग एक पग, किन्तु ठिठककर
खड़ा हो गया, काँप उठे तरु अविदित भय से।
चमक उठा सहसा कवि का मुख तीव्र ज्योति से,
"देवि ! देवि !" की ध्वनि से सहसा गूँज उठा वन।
कवि अचेत हो गिरा वहीं छवि के चरणों पर,
नयन बन्द थे, बद्ध प्रणति-अञ्जलि में कर थे ॥

× × ×

एकत्रित हो मेघ छा गये तरु-शिखरों पर,
सूर्य वेग से मध्य-गगन तक चढ़ आया था ॥

१६३५